3. जीवन का साक्ष्य : निर्मला पुतुल की कविता

जनजातीय रचनात्मकता अर्थात कविता की पाँच हजार साल की विरासत भारतीय साहित्यको पोषित और पल्लवित कर रही है।कविता इसआशय से कभी अभिव्यक्त नहीं हुई कि उसका कोई अन्य आस्वाद करेगा अथवा वह उसकी पीड़ा का स्वर बनकर उभरेगी या उसका कोई मूल्य चुकाने आएगा। बाजार-उत्पादन, विपन्नन से परे कविता जीवन के अनुराग-विराग का राग बनकर उभरी। हृदय का उल्लसित भाव कविता में दिखाई पड़ता है तो दग्ध भाव भी कविता में धुलता दिखाई देता है। जंगल, पहाड़, पठार, नदी, घाटी से निकलती आवाज में पर्यावरण और प्रकृति के संबंध की कथा का स्वर है।

आज जनजातीय कविता साहित्य का परिप्रेक्ष्य बन चुका है।भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में जब भाषा और संस्कृति को भी बाजार का विषय बनाया जाने लगा तब मुख्यधारा से दूर हमारा साहित्य भी साकांक्ष होने लगा। यह निश्चित रुप से कहा जा सकता है कि आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में पीछे छूट गए,खो से गए हमारी विरासत को पुनः देखने का सायास प्रयत्न हम सब ने किया ।इस प्रयत्न सेभारतीय कविता के अनेकानेक तेवर हमारे समक्ष दिखाई देने लगे।इनमें से जनजातीयचेतना से संपन्न जनजातीय कविता को हम देख सकते हैं ।रमणिका गुप्ताके अनुसार"वह हिंदी भाषा को नई-नई ध्वनियों, लयों, स्वरों, शब्दों और मुहावरों से लैस भी कर रही है।आदिम युग के मिथक और कल्पनाओं को सहेज रही है और इतिहास से छूटे प्रसंगों को भी कविता, कहानी व गीतों में ढाल रही है- यह कलम।"(पृष्ठ 5, कलम को तीर होने दो)

जनजातीय कविता, जनजातीय जीवन का विशाल परिप्रेक्ष्य हमारे सम्मुख स्पष्ट करती है तो दूसरी तरफ वहऔद्योगीकरण की विनाश लीला को भी दिखाना नहीं भूलती। विकास की तथाकथित गतिविधि में जड़, जंगल और जमीन के नाश की भी कहानी कहती है। विकास और विस्थापन से उपजे भय की ओर यह कविता संकेत करती है। प्रकृति और स्त्री के दोहन और शोषण की प्रभावान्विति हम जनजातीय कविता में देख सकते हैं । प्रकृति की निकटता के कारण जीवन-यापन की पारस्परिकता का भाव जनजातीय कविता में है तो विश्व के बाजार बनने से उपजे भय जिसमें इस प्रकृति की मार भी है, इसे यह कविता स्पष्ट

करती है।जनजातीय जन के सीधेपन का फायदा बहुराष्ट्रीय कंपनियां किस प्रकार उठाती हैं और पूँजीवादी समाज धरती की उर्वरता को नष्ट करता हुआ ज्यों-ज्यों इस ओर आगे बढ़ रहा है, संकट को दुगुने स्तर पर अनुभव किया जा सकता है।'जैविक विचार' की तरह 'जैविक फसल' की ललक विश्व प्रसिद्ध मॉल और बाजारों में सशक्त उत्पाद की तरह देखा जा रहा है। जब वैचारिकता, आलोचनात्मकता की भाषा, शैली अपना स्वरूप खोने लगी है तब उन्हें लोक, आदिम, जनजातीय भाषा शैली आकर्षित करने लगे हैं। क्योंकि वह शास्त्र प्रतिद्वंदिता से उपजा नहीं है। प्राकृतिक चेतना अब विमर्श के केंद्र में है क्योंकि उसका विकास बाहर के खाद पानी से नहीं हुआ ।बिना किसी को कष्ट पहुंचाए प्राकृतिक अनुशासन के साथ जनजातीय कविता बाहरी आक्रमण को महसूस करती है ।

स्त्री और प्रकृति का सामंजस्य 'जनजातीय कविता' की विशिष्टता है । यह अलग बात है विचारधारा के रूप में इसका जन्म पाश्चात्य देशों में 1960 के दशक में हुआ जब रेचल कर्सन ने 'साइलेंट स्प्रिंग' कविता लिखी । मनुष्य की लालसा जब बेलगाम हो जाती है तो उसका असर पूरी धरती और जीवमंडल पर कैसा पड़ता है इसे हम रेचल कर्सन कीकविता में देख सकते हैं।यों भारतीय मनीषा में सीता, द्रौपदी, सुनयना, मंदोदरी, मीरा, शकुंतला की उपस्थिति को पारिस्थितिक स्त्रीवाद के परिप्रेक्ष्य में देख सकते हैं।'उर्मिला' और 'यशोधरा' तो पारिस्थितिक स्त्रीवाद के विलक्षण उदाहरण हैं।

फ्रांसीसी नारीवादी फ्रन्स्वा द यूवोणने सन 1974 में स्त्री-पारिस्थितिकी की संकल्पना की सैद्धांतिकी तैयार की । उन्होंने सिद्ध किया कि पृथ्वी के क्षरण का कारण पुरुष है। पुरुष के आक्रमण से धरती को बचाकर मानव की रक्षा स्त्री ही कर सकती है। अब स्त्री और प्रकृति दोनों पर अधिकार स्थापित कर पुरुष दोनों का शोषण कर रहा है। स्त्री में ही वह शक्ति है जो शोषण मुक्त समाज की स्थापना कर सकती है। हिंदी कविता में स्त्री पारिस्थितिकी की स्थापना सर्वप्रथम महादेवी वर्मा की रचनाओं में देखा जा सकता है । पारिस्थितिवाद तीन प्रतिमानों- जैव संकट, सामाजिक संकट तथा सांस्कृतिक संकट के आधार पर पृथ्वी के संकट को देखता है। स्त्री-बहनापे के माध्यम से इन तीनों संकट से धरती को उबारा जा सकता है । इको-फेमिनिज्म किसी भी युद्ध के खिलाफ है। स्त्री-शक्ति पूरी धरा को अपनी संतान मानती है इसलिए किसी भी प्रकार के संहार का वह विरोध

करती है । अतः पूँजीवादी साम्राज्यवादी जघन्य वृतियों का विरोध उनका प्रथम कर्तव्य बन जाता है। घर और बाहर की समरसता दुनिया के संघर्ष को दूर कर सकने में सक्षम है। महादेवी के शब्दों में,"क्रांति के अग्रदूती और स्वतंत्रता की ध्वजा-धारिणी नारी का कार्य जीवन के स्वस्थ निर्माण में शेष होगा, केवल ध्वंस में नहीं।" स्त्री पारिस्थितिकी मानवीय दृष्टिकोण को अपनाता है ।यह पुरुष केंद्रित अधिकार और उसकी संरचना को विकेंद्रित कर स्त्री को भी सहभागी बनाने का प्रयास करता है।फ्रन्स्वा के अनुसार "स्त्रीपर आधारित भूमि ही सबको सुरक्षा प्रदानकरेगी। यह सिद्धांत भूमि से जुड़े समस्त दरिद्र, दुर्बल और शोषितों के पक्ष में स्त्री-शक्ति का आह्वान करता है। यह सिद्धांत पुरुषों के लिए 'शिकारी' का बिंब तथा स्त्री और पृथ्वी के लिए 'शिकार'का बिंबको ग्रहण करता है।

निर्मला पुतुल की कविता संथाली संवेदना से जुड़ी है।जनजातीय जीवन की अस्मिता को वे धरती की अस्मिता से जोड़कर कर देखती हैं । उनकी कविता स्त्री और धरती के शोषण के कई रूप उजागर करती है और खुलकर वे उसका प्रतिरोध भी करती हैं ।पारिस्थितिक-स्त्रीवाद का सशक्त उदाहरण निर्मला पुतुल की कवितायें हैं।

भारतीय कविता के आंगन में जब कई विमर्श पश्चिम से आयातित हो भारतीय रुपक में बंधने का प्रयास कर रहे थे । ऐसे में संथाली कविता की इस भूमि में टेसू के फूल का टटकापनदिखायी देता है साथ ही माँदल की थाप के साथ महुआ की मादकता भी महसूस की जा सकती है ।भरी-पूरी प्रकृति के साथ कविता के फूल पठार पर बिखरे पड़े हैं जिन्हें न विदेशी रूपकके नकल की जरूरत है न बिंब के लिए किसी स्मृति की आवश्यकता है। प्रकृति का उजास कविता की भावभूमि में अनायास पिरोया हुआ है।

यह कविता न आयातित विचारों से प्रेरित है और न ही प्रसिद्धि की अनावश्यक छटपटाहट इसमें है।जिन विचारों को हम कुछ वर्ष पहले तक हाशिए का विमर्श कह एक विशेष खाने में 'सेट' करने का प्रयास कर रहे थे उसने स्त्री, दलित,हाशिए को धकियाते हुए स्वयं को विशिष्ट की श्रेणी में स्थापित कर लिया। आज जनजातीय कविता का स्त्री-पाठ अपने में स्वतंत्रता, परतंत्रता, विकास,विस्थापन, औद्योगिकरण-नगरीकरण, पर्यावरण, प्रकृति के साथ मनुष्य के तादात्म्य,भोगवादी प्रवृत्ति का परिणाम, बंजर होती धरती से लेकर बंजर होते हृदय कीकहानी कहता है।

स्त्री यहाँ भी शोषण का शिकार है लेकिन यह शोषण बाहरी लोग नहीं बल्कि चेहरे पर मुखौटा डाले अपने ही लोग विभिन्न कंपनियों के माध्यम से कर रहे हैं ।अपनी ही धरती पर रहते हुए वे मजदूर बन गए हैं। सरकार के वादों का खोखलापन भी किसी नीति के प्रति विश्वास नहीं दिला पाता। एक प्रकार से यह कविताई स्वयं के होने का बोध कराता है। प्रकृतिस्थ जन अपने इतिहास को बचा कर रखना चाहता शौर्य की गाथाओं को अपनी भाषा में निबद्ध कर जंगल और जमीन छोड़ श्रमिक बनने जा रहे अपने भाइयों और बहनों को सुनाना नहीं भूलता यह कविता सजगता का बोध कराती है कि बाहरी ताकतें तुम पर हावी ना हो जाए ।वानस्पतिक संपदा को बचाने का पाठ इस कविता की संरचना में देखा जा सकता है। औषधीय गुण, शौर्य का प्रतीक तीर-धनुष के साथभाषा-बोली के बिलाते जाने का दुख विलाप बनकर निर्मला पुतुल की कविता में उभरता है। परंतु दुःख का भाव यहां देर तक निमज्जित नहीं होता- सवाल बनकर फूट पड़ता है। यह सवाल कभी पुरुष से है तो कभी अपने देस-कोस के लोगों से। स्त्री विभिन्न रूपाकार में मौजूद है कभी स्थापित स्त्री के रूप में तो कभी निर्वासित स्त्री के रूप में ।पत्तल बनाती बाहामुनि है तो कहीं बिटिया मुर्मू, बूढ़ी पृथ्वी है तो कभी पिलचू बूढ़ी है।स्त्री है तो माँ के विभिन्न रूप उसमें मौजूद हैं।उसके पास संबंधों का संसार है-ढ़ेपचा के बाबू,माँ, बाबा, भाई मंगल बेसरा, आस-पास के छोटे भाई हैं । सिद्धू-कान्हू, बिरसा मुंडा, तिलका माँझी जैसे पुरखे हैं जिससे यह कविता दो-चार होती है। लेकिन इन सब के मध्य जो बेचैन स्त्री हैवह अपना एकांत ढूंढती है। नगाड़े, माँदल और बाँसुरी की आवाज अब उसे उत्तेजित नहीं करते ।उस आवाज में वह उन चालाकियों को पकड़ना चाहती है जिसने जीवन-रस को निचोड़ लिया है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था के बरक्स यह कविता मुक्ति की आकांक्षा का गीत मात्र नहीं है बल्कि सामाजिक संघर्ष में स्त्री की स्थिति और उसका हाशिए पर धकेला जाना भी है। निर्मला पुतुल की कविता जनजातीय अस्मिता के साथ स्त्री-अस्मिता को भी जोड़कर देखती हैं । बलत्कृतशोषित, घरेलू श्रमिक के रूप में स्त्री की छवि अनुर्वर बना दी गई धरती, लूट-खसोट की शिकार बनी प्रकृति के साथ संगठित हो जाती है।'ढ़ेपचा के बाबू' कविता की यह पंक्ति -

कोई आया, कुछ उठा ले गया
तुम बाँसुरी बजाते रहो

दरअसल, यह घर और बाहर की दुनिया में स्त्री का वह बोध है जहाँ उसे अपना कोई नहीं दिखता। इसलिए वह इस निःसंगता / निष्क्रियता के खिलाफ उठ खड़ी होती है –

इस बार मैं चुप नहीं रहूँगी
छीन कर तोड़ दूँगी तुम्हारी बाँसुरी
कि देखो इस बार
वो मुझे उठाने आ रहे हैं ।

'संवेदनशून्यता' के सहभागी पति, पिता- पुरुषवादी सत्ता, विभिन्न रूप में बिखरे पुरुषवाची संबंधों से विश्वास का उठ जाना जनजातीय स्त्री तथा उस जैसी अन्य स्त्री का चीत्कार है-

कैसे भूल जाऊं वह राक्षसी रात
जिसमें दुनिया की सारीसंवेदनाएँ
मेरा सबसे ऊंचा विश्वास
पवित्र रिश्ते की आस्था
सब कुछ लुट गया गया ।

प्रियतर बनने से अलग होने के खिलाफ निर्मला पुतुल की कवितायें पहाड़, पठार, घाटी, झरने से निकल काँटों के बीच से पुटूश के फूल के खिलने का इंतजार करती है जहाँ एकांत में तितलियां होंगी उनको मारनेवाले कीटनाशक नहीं। "क्या तुम जानते हो" कविता अनेकानेक प्रश्न करती है। स्त्री से जुड़े प्रश्न स्त्री के एकांत, स्त्री के उसकी जमीन, सदियों से घर तलाशती एक बेचैन स्त्री के घर का पता, स्थापित और निर्वासित होती स्त्री के द्वंद, रिश्तों के कुरुक्षेत्र में स्त्री, उसके भीतर का खौलता इतिहास, उसकी फैलती जड़ोंको समझने की कोशिश, समस्त रिश्ते के व्याकरण को समझने का प्रयास यह कविता करती है।

अनेकानेक प्रश्नों के मध्य यह कविता बेहद तरल दृष्टि की आकांक्षा रखती है ।अतएव यह कविता स्त्री के साथ अपनेपन का बोध की चाहत रखती है तभी आप स्त्री को समझने की दृष्टि विकसित कर सकते ।इस बाबत निर्मला पुतुल रसोई और गणित से परे स्त्रीकी परिभाषा गढ़ने से पहले तन के भूगोल से परे, मन की गाँठ खोलने की बात करती है।

निर्मला पुतुल की कविता अनेकानेक प्रश्नों का संगुफन है। एक प्रश्न के भीतर अनेक प्रश्न, शब्द के अंदर शब्द-बीज, ध्यान से देखें तो निर्मला पुतुल की कविता सीमाओं से परे जाना चाहती है और फिर सीमा में लौट आती हैं । अपनी जमीन तलाशती बेचैन स्त्री कविता में घर, संतान, प्रेम, जाति से मुक्ति की बात करती हैं । क्योंकि यही वह चौहद्दी है जिसे वे अक्सर पार नहीं कर पाती। उस परिधि में उसका स्नेह उनको बांधता है लेकिन उनके समर्पित मन को पुरुषवादी, वर्चस्वशाली रावण हर कर ले जाना चाहता है। इसलिए स्वयं को स्वयं की दृष्टि से देखने की बात करती हैं। वह कहती हैं कि हम स्वयं को देखने के लिए पुरुष दृष्टि के अभ्यस्त हैं। अर्थात हमने ना अपनी दृष्टि विकसित की ना पुरुष दृष्टि के मानकता पर सवाल उठाया ।हमने पुरुष दृष्टि को मानक माना है,हमने अपनी मानकता तय नहीं की है। इसीलिए निर्मला स्वयं को स्वयं की दृष्टि से देखने की बात करती है।

'क्या तुम जानते हो' कविता में निर्मला पुतुल हर उस दृष्टि को निषेध करती हैं जो पहले से चली आ रही हैं और स्त्री को अपने मानदंड में बाँधने की कोशिश करती है। यह कविता ना सिर्फ तथाकथित पुरुष दृष्टि का निषेध करती है बल्कि स्त्री विमर्श की पश्चिमी परिभाषा को भी दरकिनार करती है। उनके काव्य संग्रह 'नगाड़े की तरह बजते हैं शब्द' की यह पहली कविता है। यह कविता एक प्रकारसेउस स्त्रीवादी विमर्श का उद्‌घोष है जिसमें अपनी जमीनसेजुड़े विमर्श के चिंतन का प्रयास है।

स्त्रीवादी परिप्रेक्ष्य का विस्तार 'चुड़का सोरेन से' कविता में देखा जा सकता है। बहनों से ठीठोली करते, गुपचुप बतियाते, दांत निपोरते व्यक्ति से बचने की सलाह देती हैं निर्मला ।सवाल करते पूछना नहीं भूलती निर्मला कि वह कौन साजंगली जानवर था जो तुम्हारी बहन मूँगली को उठाकर ले गया। विश्वास की जड़ों को कुतर रहे लोगों की भाषा को पहचानने का प्रयास करने को कहती हैं वे ।ललिता उराँव, दीपा मुर्मू, बुधनी, रिता कुजूर के गायब होने, गर्भवती होने की सच्चाई को समझने को कहती है क्योंकि ऊंची सैंडल वाली स्टेला कुजूर, बैग लटका बाजार जाने वाली शीलवंत से सावधान रहने की जरूरत है। 'कुछ मत कहो सजोनी किसकू!' कविता में बागजोरी गाँव में हल चलाने वाली सजोनी किसकूके साथ निर्मला खड़ी हैं ।'माँझी हाड़ाम' इस कविता में वर्चस्व का वह प्रतिनिधि बनकर आता है जिसके लिए यह गवारा नहीं कि कोई स्त्री हलचलाए और यदि सजोनी किस्सू जैसी स्त्री यह

करती है तो उसे बैल बनाकर हल में जोता जाता है और खूंटे में बांधकर जानवर की तरह भूसा खिलाया जाता है।

स्त्री के प्रतिउत्पीड़न का यह भाव कहाँ से आया ? निर्मला उस पुरुषवादी समाज से प्रश्न करती हैं कि 'संथाल-विद्रोह' के समय तुम्हारा पौरुष कहाँ गया था- जब तुम सब महिलाओं को छोड़ भाग गए थे। एक प्रकार से उस पूरे इतिहास के मर्म पर निर्मला ऊँगली रख देती हैं जहाँ से स्त्री को धकियाया जाता रहा है। पहाड़पुर की 'प्यारी हेंब्रम' को निर्मला याद करती हैं जिसे उसका पति 'जातीय टोटम' के विरुद्ध नाक-कान काट देता है ।सवाल यह है इतनी हिंसक मनोवृति को पुरुषों ने अपना अधिकार कैसे समझा कि वह 'सुबोधिनी मरांडी', 'पकलू मरांडी' जैसी महिलाओं को कभी डायन करार दे इज्ज़त लूटता है तो कभी नंगा नचाता है । 'माँझी हाड़ाम', 'पराणिक', 'गुड़ित' जैसे चरित्र जनजातीय समाज के ठेकेदार हैं जो किसी स्त्री के चरित्र की बोली लगाना अपना परम कर्तव्य मानते हैं ।

'क्या तुम जानते हो' जैसी कविता किसी किताब को पढ़कर नहीं उपजी है ।जन संघर्ष में भागीदारी और अपने आसपास घटित हो रही घटनाओं पर गहरी पकड़ से उपजी है।हिंसक मनोवृति के खिलाफ निर्मला आवाज उठाती हैं ।जनजातीय कविता का स्त्रीवादी परिप्रेक्ष्य ठेठ चिंतन से उपजा है। यहां पूँजीवादी सिद्धांत काम नहीं करता । हाँ, एक बात जो समान है वह है स्त्री पर अत्याचार। पृथ्वी के गोलार्द्ध में यह हिंसा लगभग एक समान है। इसी हिंसा का दूसरा रूप प्रकृति का शोषण है जहाँ स्त्री और प्रकृति एक हो जाती है।'अपने घर की तलाश में' कविता में अपने होने का अर्थ ढूंढने के पर्याय में स्त्री और धरती निमज्जित हो जाती है। 'बूढ़ी पृथ्वी का दुख' कविता में स्त्री-पारिस्थितिकी का विस्तार देखा जा सकता है। पुरुष केंद्रित अधिकार और उसकी संरचना को समझने का यह कविता प्रयास करती है । जैव संकट, सामाजिक संकट और सांस्कृतिक संकट को जनजातीय स्त्री विशेष रूप से प्रत्यक्षतः भुगत रही है ।स्त्री और प्रकृति दोनों का शोषण पुरुषाधिपत्य का परिणाम है ।लेकिन प्रकृति बोल नहीं सकती । वह भूकंप, बाढ़,प्लवन के माध्यम से पुरुषवादी अहंकार से बदला लेती है लेकिन स्त्री आवाज उठा सकती है ।प्रभुत्व की आकांक्षा प्रकृति को नाश करने में लगी है और यही आकांक्षा स्त्री के संदर्भ में भी देख सकते हैं ।मिट्टी की उत्पादकता के साथ स्त्री की उर्वरता को पुरुषोंनेअपने अधीन रखा है। कीटनाशकों,

उर्वरकों के इस्तेमाल के साथ तमाम तरह के इंजेक्शन और दवाइयों के बहाने गर्भपात आदि के साथ पुरुष लिंगाधिपत्य इसी का नतीजा है। यह ध्यान देने की बात है कि पृथ्वी के शोषण की बढ़ोतरी के साथ स्त्री पर शोषण के बढ़ते अनुपात को भी देखा जा सकता है। पूँजीवादी व्यवस्था मुनाफे के सिद्धांत पर चलती है तो समाजवादी व्यवस्था प्रगति के सिद्धांत पर ।यह दोनों सिद्धांत प्रकृति और स्त्री के लिए जानलेवा है।

निर्मला पुतुल की रचना 'क्या तुम जानते हो' का विस्तार सकल झारखंडी समाज में देखा जा सकता है।विलुप्तिकरण की प्रक्रिया से कवयित्री दुखी और बेचैन है। पर्यावरण-दोहन का असर सर्वप्रथम स्त्रियां ही झेलती है। 'बिटिया मुर्मूके लिए' कविता में विडंबनाओं को समझने का प्रयास किया गया है। इस कविता को तीन परिप्रेक्ष्य के माध्यम से देख सकते हैं । कविता में संपूर्ण जनजातीय समाज को सोये से जगाने का प्रयास है। कवयित्री अंधेरे के खिलाफ, साजिश के खिलाफ उठने को कहती हैं । वह उन शक्तियों को पहचानने की बात करती है जिसने इस धरती को रसहीन कर दिया ।अपनी मेहनत से पैदा हुई उस फसल की ओर संकेत करती हैं जिसका सही मूल्य चुकाए बिना, उन तक फसल पहुँचे बिना जो बाजार में चले जाते हैं और आश्चर्यजनक इतना कि उनके उगाए फसल जिसे उसने पसीने से सींच कर उगाया है बस्ती की दुकानों पर बिकने चले आते हैं। बाजारवादी सभ्यता का खेल इस जनजातीय समाज के लिए नया है। उसे इस खेल की धूर्त्तता का पता नहीं है।

सर्वप्रथम तथाकथित समाज ने अधिक उपज के लिए खाद, कीटनाशकका प्रयोग कर दुगना-तिगुना पैदावार किया तत्पश्चात उर्वरता कम होने का दावा कर वही समाज जंगलों में खिसक आया ।जंगलों में भी उपजे धन-धान्य पर 'जैविक उत्पाद' का लेबल चस्पा कर बाजार में भेज दिया। आज यही 'जैविकता' का भाव जनजातीय समाज के लिए शोषण का माध्यम बना हुआ है ।यह दुष्ट मायावी समाज जैविक तन, जैविक मन, जैविक धन की चाहना लेकर जंगल की संतानों का जीना दूभर किए हुए है ।आज सर्वश्रेष्ठ औषधियां उन्हें जंगलों, पहाड़ों,कन्दराओ में दिखाई देती है ।पहाड़ से गिरते सोते में चर्म रोगों का निदान मिलता है। पेड़ पर लिपटी लताओं में, उसके छालों में, जानवरों की नखों,दांतों, चमड़ों में उन्हें बेहतरीन इलाज दिखता है। सवाल यह है कि यदि इतना कुछ बेहतर है यहाँ तो उसे बचाने की कोशिश क्यों नहीं है । अनेक बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने, राष्ट्रीय उद्योगों ने मानवता के

नाम पर, देशभक्ति के नाम पर, जनजातीय समाज की रसना को चूसने का प्रयास किया हैं । सड़कें, बिजली वहाँ तक जाती हैं जहाँ तक कंपनियों के प्लांट लगे हैं। विद्यालय, अस्पताल अभी भी नदारद हैं। विकास के नाम पर सरकारें आंखें बंद किए हुए है। भाषा की मृत्यु, संस्कृति का क्षरण, समाज का विलोपन के साथ वृक्ष और धरती को नग्न करते हुए बलत्कृत होती इन पहाड़ी देवियों के आर्तनाद को कौन सुनेगा।

कवयित्री की व्यथा अपने लोगों को आवाज देती है। वह उनके उठने में तेजस्विता, ऊर्जा का संचार करना चाहती हैं ।'तूफान से बवंडर','राख में दबी चिंगारी' की तरह खड़े होने और सुलगने को कहती हैं । वह प्रश्न करती है,"कैसा लगता है तुम्हें जब / तुम्हारी ही चीजें / तुम्हारी ही पहुँच से दूर होती दिखती है ? यह 'कैसा लगना' यहीं नहीं थमता है। कविता के दूसरे परिप्रेक्ष्य में यह व्यथा और घनीभूत हो उठती है। सीधेपन से उकताकर वह पूछती है- समय ने इतना तुम्हें कुतरा है फिर भी तुम विश्वास करती हो। इस विश्वास की जड़ेंक्या पाताल तक फैली हैं जो तुम समय की छलनाओं को नहीं पहचान पा रहे। अंत में,कवयित्री का थका स्वर सुनाई देता है - भूख और थकान के सिवा / सिवा एक बेहतर जिंदगी की उम्मीद के / शायद कुछ भी नहीं है ..../ विडंबना ही है /.....कि ईश्वर पर सबसे ज्यादा कैसे करती हो विश्वास.....?

कविता का तीसरा परिप्रेक्ष्य खुलकर फूट पड़ता है। विसंगतियों को निरावृत कर खोलकर सच-सच कहने का साहसकरती है निर्मला पुतुल यहाँ । 'नृत्य की बड़ाई करने वाले' लोगों को संस्कृति में बहिरागत के आने को, प्रशंसा के गीत गाने वाले भांड, धूर्त निशाचरों को पहचानने की समझ विकसित करना चाहती हैं निर्मला। उन सौदागरों को समझने के लिए वे जोर-जोर से और बार-बार कहती हैं - पहाड़ों पर आग लगाने वाले, दुकानों पर कामगार बनाने वाले, सब्जबाग दिखा कलकत्ता और नेपाल के बाजारों में वेश्यावृत्ति करवाने वाले सौदागरों को पहचानने के लिए निर्मला चीख-चीख कर कहती हैं ।नगाड़े की शोर में अपना स्वत्व अनसुना करने के खिलाफ़ यह कविता हथियार है । कवयित्री का दुःख गुस्से में फूट पड़ा है । 'जैविक' को 'रासायनिक' भाव, वस्तु, बाज़ार से जीतने की प्रक्रिया जिस वर्चस्ववादी समाज की स्थापना को जन्म दे रहा है उस भस्मासुरी आग में यह समाज जल्द ही मृत्यु की शैय्या सजाने वाला है । 'समरसता के भंग' करने की

इबारत लोभ के साम्राज्य में लिखी जायेगी तो इतिहास गवाह है कि प्रकृति अपना बदला जरुर लेगी।

निर्मला नगाड़े की आवाज़ को बुलंद करना चाहती है। वे प्रकृति के मध्य नृत्यरत रहने वाले मन को देख हैरान हैं क्योंकि नृत्य के आवर्तन को बदलकर प्रदर्शन बना दिया गया है। यह प्रदर्शन भौतिकवादी समय की उपज है ।उपभोक्तावादी समाज की छलना यह है कि वह पहले संस्कृति का हिस्सा बनता है और फिर धीरे से संस्कृति के एक रेशे को अपनी अंगुलियों में बांधता है और धीरे-धीरे उस धागे को अपनी मुट्ठी में कर लेता है। फिर उस धागे को चीनी माँझे में तब्दीलकर अपने अनुसार पतंग को उड़ाता है। समस्या यह है कि धागे और पतंग हमारी संस्कृति हैं लेकिन धागे पर लगा शीशा बाहर का है जिसके स्पर्श मात्र से लहूलुहान हुए बगैर रहा नहीं जा सकता ।

निर्मला पुतुल 'बिटिया मुर्मू' के लिए चिंतित हैं । चिंता की वजह अपनी ही चीजों से बढ़ती दूरी है। वे जब कहती हैं—

"सोचो- तुम्हारे पसीने से पुष्ट हुए दाने एक दिन लौटते हैं / तुम्हारा मुँह चिढ़ाते तुम्हारी ही बस्ती की दुकानों पर" तो इस पंक्ति में दाने पसीने के सिंचन से, मेहनत से, जीवन जीने की नमक से पुष्ट हुए हैं। कोई खाद बाहर का नहीं है, नही बीज बाहर का है।अपनी धरती और अपनी मेहनत की रागात्मकता इस दाने के साथ है और वह भी बाजारीकरण का शिकार हो गया है। इस पंक्ति में कवयित्री बेटे या पति को नहीं पुकारती, वह बिटिया मुर्मू को पुकारती है। दरअसल, यह पुकार उस धरती की आर्त्र पुकार है जिसे उसकी या उस जैसी ही स्त्री सुन सकती है। यह पुकार इसलिए भी पुत्री के लिए है कि किसी भी हिंसा, युद्ध या प्रकोप का शिकार स्त्री ही होती है। कुल्हाड़ियों से नंगी होती बस्तियां वस्तुतः स्त्री को अनावृत कर रोंदने का प्रयास भी है। इस पंक्ति में पक्ष तथा प्रतिपक्ष दोनों आमने सामने हैं। यहां प्रश्न है कि क्या स्त्री का पक्ष या प्रतिपक्ष भी होता है क्या ? इसीलिए कुल्हाड़ियों की साजिश को समझाने का प्रयत्न करती हैं निर्मला पुतुल।

इसी कविता का विस्तार हम उनकी दूसरी कविता 'जनजातीय लड़कियों के बारे में' देखते हैं जहां लेखिका उनके सौंदर्य, जीवन, शैली की तारीफ में कहे गए शब्द को झूठा करार देती है ।उनके अनुसार परिचय में बड़े-बड़े झूठ कह उन्हें बरगलाने की कोशिश की

गई है जिसे जनजातीय लड़कियों का निश्चल हृदय समझ नहीं पाता और यहीं कविता शोक गीत में तब्दील हो जाती है।

यह कविता कई चिंताओं का समुच्चय है ‘दूर जाने का भय’ इस पूरी कविता में व्याप्त है। दूरी के साथ अपने गाँव, रिश्ते-नातेदारों के छूट जाने का भय, अपनी जमीन से विस्थापित होने का, निर्वासित होने की चिंता पूरी कविता की देह में अजीब सी बेचैनी को बयां करती है। लोकगीत की शैली में यह कविता संगुफित है। बेटी, बाबा को संबोधित करते अनुनय कर रही है। यह कविता आर्थिक सबलता, धरती से निकटता, पति के रूप में प्रेम करनेवाला मन जिसके हाथ सृजनात्मक हों, पेड़ लगाने से लेकर सुरीली बाँसुरी बजाने वाला हो, ढोल-माँदल बजाने में पारंगत हो, साथ ही जो उसके जुड़े में खोंसने के लिए पलाश के फूल ला सके और जिसे उसके बगैर खाया नहीं जाए-ऐसे वर लाने और पाने की इच्छा को बिंबित करती है। ऐसा विवाह न हो जहाँ पिता विपन्न हो जाए इतना कि बाबा को बकरी बेचनी पड़ जाए।

यह कविता ब्याह के बरक्स विकास और प्रकृति के टूटते संबंध के साथ आधुनिक समाज की विषमताओं पर प्रकाश डालती है ।जनजातीय समाज सरल समाज है। उसे विकास के तथाकथित अनुषंगोंसे कोई लेना-देना नहीं है लेकिन छलावे का विकास और छलनामय लोगों की वास्तविकता यह समाज पहचान चुका है इसलिए बार-बार बेटी पिता को ध्यान दिलाने से नहीं चूकती कि जहाँ आदमी से ज्यादा ईश्वर हो वहाँ विवाह मत करना ।ईश्वर बनकर कई लोग आए और सबके सब मनुष्यता की तुला पर कमतर साबित हुए। जंगल, नदी, उनकी आवश्यकता है जिसके बिना वे जी नहीं सकते ।बड़ा-सा खुला आँगन, मुर्गे की बांग,पहाड़ी पर डूबता सूरज जहाँ हो, बेटी वैसी जगह जाना चाहती है।लेकिन ऐसा नहीं कि जनजातीय जीवन का हर पक्ष उसे सुहाता हो क्योंकि उसे पोचई और हड़िया में डूबा रहने वाला वर नहीं चाहिए या जो मेले से लड़कियाँ चुराए ऐसा भी वर नहीं चाहिए ।वह यह भी कहना नहीं भूलती कि बात-बात में लाठी-डंडा या तीर-धनुष, कुल्हाड़ी निकालने वाला पति हो या ऐसा जो कमाने के लिए बंगाल,असम या कश्मीर जाए,ऐसा भी पति नहीं चाहिए ।

इस कविता में, प्रकृति के संरक्षण की चिंता के साथ पुरुषवादी सत्ता का वृतांत प्रस्तुत है। विकास के नाम पर प्रकृति का दोहन-शोषण और नौकरी के नाम पर अपने देश-कोस छोड़कर चले जाने का दुःख है। एक साथ यह कविता कई स्तरों पर बात करती है।

यह कविता वैश्विक या शहराती बातें नहीं करती। महुआ की लट, खजूर का गुड़ बना सकने और बाबा को भेज सकने की ख्वाहिश है इस कविता में। कद्दू-कोहड़ा, खेखसा, बरबट्टीजहाँ समय-समय पर भेजा जा सके। घर-गाँव का हाल-चाल, चितकबरी गैया के बियाने की खबरजहाँ मिल सके बस इतनी चाहत है बेटी की।

आकांक्षाओं के मायाजाल को यह कविता क्षणभर में समाप्त कर देती है। यह तथाकथित नारीवादी विमर्शों को भी ध्वस्त करती है। इसमें कोई नारा, एजेंडा,मांग-पत्र, जिंदाबाद-मुर्दाबाद शोर नहीं है। नहीं कहीं 'कैंडल लाइट प्रोसेशन' है, जंतर-मंतर पर धरना देने की कवायद भी नहीं है। गहन संवेदना से संपर्क किए कविताएं अपनी छोटी सी चिड़िया के वजूद को तलाशती है । यह तलाश की विकलता है और उसे बचाने की जिद कविता बन जाती है।

सदियों से चल रहे प्राकृतिक संसाधनों के दोहन को कवयित्री पहचानती हैं इसलिए प्रकृति पर हो रहे हर कुठाराघात को बताते हुए स्त्री पर हो रहे अत्याचार को बताने लगती है।'भाषा की दरारों से झाँकते बदशक्लआदमी' की चालाकी को लेखिका पहचानती है । 'अन बोली मंशा', 'झूठी तारीफों के पुल', 'लिजलिजे पुलों का रहस्य','झकझक साफ कमीज' का मैलापन कवयित्री पहचानती है और कह उठती हैं,

ठीक तरह से कर सकूँ हमला
और बता सकूँ सरेआम गिरेबान पकड़
कि मैं वह वो नहीं जो तुम समझते हो !!

निर्मला पुतुल की कविता जनजातीय समाजके सीधेपन का फायदा उठा मदारी की तरह उन्हें नचानेवाले लोगों के प्रति गुस्सा बन फूट पड़ता है।'पीलचू बूढी से' जो सृष्टि की पहली स्त्री है वे पूछना नहीं भूलती कि तुम्हारे वंशज इतने मगजहीन कैसे हैं जो अपने वजूद को भी नहीं पहचानते यह गुस्सा 'धीरे-धीरे' कविता में और फूट पड़ता है-

बटोर पृथ्वी की पूरी ऊर्जा

उठेगा धीरे-धीरे जमीन से
जमीन पर गिरा आदमी
और अपने लड़खड़ाते कदमों से नापते दूरियां
पहुंच जाएगा वहाँ
जहाँ उस जैसे तमाम आदमियों पर
बहस चल रही होगी धीरे धीरे,(पृष्ठ संख्या 85)

निर्मला पुतुल की कविता जनजातीय समाज के यथार्थ को उद्‌घाटित करती है। इस यथार्थ को समझने के लिए उस समाज की भाषा की निर्मितियों को समझना होगा। जंगल और जमीन के उस रिश्ते को समझना होगा जिसके मध्य जनजातीय समाज सुकून से जीता है ।उस समाज में पनप रही चिंता को भी समझने की आवश्यकता है जिसमें वे सहज नहीं महसूस करते ।जनजातीय कविता के बिंब चमत्कृत नहीं करते-गहन अवसाद दिखता है उनमें।अवसाद के कारकों की ओर देखने की कवायद करती है यह कविता ।विकास के नाम पर शोषण, प्रगति के नाम पर विस्थापन साथ ही,वहाँ की संपदा और स्त्री के प्रति उनकी गिद्ध दृष्टि को निर्मला पुतुल उद्‌घाटित करती हैं । स्थानों के नाम, व्यक्तियों के नाम लेते हुए निर्मला नीति निर्माताओं, स्वयंसेवी संगठनों पर गहरा तंज कसती हैं । लेकिन इन सभी अप्रिय घटनाओं के बीच भी उदासी से परे विश्वास को बनाए रखना नहीं भूलतीं-

आओ मिलकर बचाएँ
कि इस दौर में भी बचाने को
बहुत कुछ बचा है, अब भी हमारे पास !

- डॉ. बन्दना झा, हिंदी विभाग,
वसंत महिला महाविद्यालय,
राजघाट, वाराणसी-२२१००१

*